विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

सार्वभौम भारत और उसकी सीमाएँ
डॉ. अभिषेक पाण्डेय

पृष्ठ क्र. 3-4

छत्रपों द्वारा भारतीय संस्कृति का वरण
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 5-6

भारत का प्राचीन नाथपंथ और समाज
रमेन्द्र कुमावत

पृष्ठ क्र. 7

प्राचीन भारत का वाणिज्य परिदृश्य
चन्द्रशेखर अवस्थी

पृष्ठ क्र. 8

स्वाधीनता संग्राम के गुमनाम योद्धा
मिथिलेश यादव

सार्वभौम भारत और उसकी सीमाएँ

डॉ. अभिषेक पाण्डेय

प्राचीन काल में भारत की सीमाएँ कहाँ तक थीं तथा विश्व के विभिन्न देशों के साथ भारत का सम्बन्ध कब–कब और कैसे–कैसे स्थापित हुआ, इसके प्रमाण एक साथ किसी एक भी स्थान पर नहीं मिलते हैं, फिर भी वैदिक वाङ्मय, भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थों, पुरातात्विक साम्रगी आदि का अध्ययन करने से कई तथ्य स्पष्ट हुए हैं। जब यह कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति विश्व में फैली हुई थी, तो सामान्यतः इसका अर्थ यही लगाया जाता है, कि भारत के लोग विश्व के कोने–कोने में गए हैं और उसकी हर दिशा, दशा और हर विधा से परिचित रहे हैं। एक पक्ष यह भी मानता है कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में रहने वाली जातियाँ धीरे–धीरे भारत में आकर निवास करने लगीं, जबकि शोध में सिद्ध हुआ है कि भारत के लोग अपनी संस्कृति की समस्त विरासतों, परम्पराओं और विशिष्टताओं के साथ दुनियाभर में फैले हुए थे। यही नहीं उन्होंने अपने ज्ञान, पराक्रम और संस्कार से विश्व के विभिन्न भागों पर अधिकार भी स्थापित कर लिया था। इस संबंध में 'इण्डिया इन ग्रीस' के लेखक पेंका का अभिमत है कि 'मानव जाति का वह शक्तिशाली अभियान, जिसने पंजाब की अनुल्लंघनीय दीवारों को पार किया, विश्व की नैतिकता की वृद्धि में अपने लोक कल्याणी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूरोप और एशिया की ओर अपने निश्चित राजपंथों से होकर बढ़ता गया। पश्चिमोत्तर में सिन्धु को पार कर जो मानव समुदाय आया, वह विज्ञान और कला के बीजों को भी साथ लेता गया। वे अपने उत्पीड़कों से दूर बेक्ट्रिया, फारस, एशिया माइनर, यूनान, फिनिशिया और ग्रेट ब्रिटेन को चला गया और अपने प्राचीन ऋषि पूर्वजों के ज्ञान के भंडार ज्योतिष और तंत्र–मन्त्र विद्याओं के असाधारण मत भी साथ लेता गया। आज भी वैदिक और बौद्ध धर्म से एशिया का वृहत्तर भाग प्रभावित है।'

पाश्चात्य इतिहासविद् सर विलियम जोन्स का मत है कि 'यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि पेरू देश के लोग अपनी उत्पत्ति रामसित्त से बताकर गर्व अनुभव करते हैं और रामलीला के नाम से उत्सव मनाते हैं। इससे हमारा अनुमान है कि दक्षिणी अमेरिका को आर्य जाति ने ही बसाया था, जो सुदूर एशिया से चलकर यहाँ राम का जीवन इतिहास तथा रीति व्यवस्था अपने साथ लेती आई थी।' वास्तविकता ये है कि हजारों वर्षों पुरानी भारतीय संस्कृति आज भी अपने मूल स्वरूप में जीवित है, जबकि यूनान, मिस्र, असीरिया और रोम की संस्कृतियाँ अपने मूल स्वरूप को लगभग विस्मृत कर चुकी हैं। शोधपरक अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष ज्ञान के उच्च शिखर पर था और सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान देने के कारण विश्वगुरु था।

स्वामी दयानंद सरस्वती का कहना है कि भारतीय बाहर से आये नहीं, अपितु बाहर के देशों में जाते थे और सभी को शिक्षित करते थे। उनके अनुसार उक्त श्लोक भारतवर्ष में उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दास, दस्यु, म्लेच्छ आदि सभी को संबोधित करते हुए आदेश दे रहा है, कि वे विश्व को अपने–अपने योग्य चरित्रों की शिक्षा का अभ्यास कराएँ। उन्होंने प्रमाण देते हुए लिखा है कि आर्यावर्त देशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीयों द्वारा लगातार विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा एवं संस्कार देते रहने के कारण कई क्षेत्रों को अपना लिया गया तथा वे क्षेत्र भारतवर्ष की सीमा में सम्मिलित होते गये। अतः प्राचीनकाल में इस देश की सीमा का ठीक–ठीक निर्धारण करना संभव नहीं था। वेदकालीन भारतीय मतों के अनुसार प्राचीन काल में भारत के लोग दुर्दम्य, साहसी और अत्यन्त उत्साही थे। वे दूर–दूर तक की यात्राएँ ही नहीं करते थे, अपितु उन्होंने अपने ज्ञान, पराक्रम और संस्कार के माध्यम से विश्व के विभिन्न भागों पर अधिकार भी स्थापित कर लिया था। भारतीय इतिहासकार डॉ. राजबलि पाण्डेय के अनुसार ऐसा जान

पड़ता है, कि जब भारतीय प्रजा ने अपने व्यापार, संस्कृति और राज्य का फैलाव दूर–दूर के देशों और द्वीपों में किया तब भारतीयों के वहाँ बस जाने के कारण उन स्थानों की गणना भारतवर्ष में होने लगी। दूसरे शब्दों में इसे वृहत्तर भारत कह सकते हैं। वृहत्तर भारत का इतिहास भारतीय इतिहास का एक आवश्यक अंग है। अध्ययन में स्पष्ट हुआ है कि भारतीय मनीषियों में राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त प्रबल थी। वेदों में कई स्थानों पर राष्ट्र के अभ्युदय एवं महत्व का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि जनता के कल्याण की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञानी ऋषियों ने दीक्षापूर्वक कठोर तप किया। उसके फलस्वरूप राष्ट्र, बल और ओज का निर्माण हुआ। देवों और मनुष्यों द्वारा पूजित वेदकालीन राष्ट्र के स्वरूप की विवेचना से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भौगोलिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ आज की अपेक्षा भिन्न थीं। यही कारण रहा कि विभिन्न कालों में भारतवर्ष के नाम भी परिवर्तित होते रहे। स्कन्दपुराण में इसे नाभिवर्ष तो भागवत पुराण में अजनाभ खण्ड कहा गया है। कुछ लोग इसे आर्षभवर्ष भी कहते हैं तथा कुछ लोग हैमवत या हिमवर्ष। यह देश भरत का देश है, इसलिए भारत नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब पृथ्वी पर मात्र चार द्वीप थे, तब यह देश भारतवर्ष के रूप में पृथ्वी के एक चौथाई क्षेत्र तक विस्तृत था। बाद में जब सात द्वीप बने तो यह जम्बूद्वीप के नाम से भी जाना जाता रहा। इसके प्रथम अधिपति महाराजा आग्नीन्ध्र थे। शोध में यह तथ्य सामने आया है कि पृथ्वी के एक चौथाई हिस्से वाले भारतवर्ष एवं जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल में कोई ज्यादा अन्तर नहीं था। इन दोनों प्रकार के भारत की सीमा वर्तमान एशिया महाद्वीप पर्यन्त थी। इसके पूर्व सम्पूर्ण पृथ्वी ही इस देश का पर्याय थी, अर्थात् पूरे विश्व में एक ही देश था, भारतवर्ष। यह वह काल था जब पृथ्वी का नौगोलिक व सांस्कृतिक रूप से विभाजन नहीं हुआ था।

इस अविभाजित पृथ्वी के सर्वप्रथम शासक स्वायंभुव मनु को आदिपुरूष की संज्ञा दी गई है। उन्होंने ही वैदिक काल और उसके पूर्व पृथ्वी पर नियमों की रचना कर सुसंस्कृत शासन किया। सप्तद्वीपों के विभाजन का वर्णन सर्वप्रथम वाल्मीकि ने किया है। बाद में नामोल्लेख आदि महाभारत में प्राप्त होता है। पुराणों में इनके नाम और क्रम में कुछ विषमताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। इन सात द्वीपों में से जम्बू को नौ भागों में बाँटा गया है। इनमें से अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि को जो भूभाग प्राप्त हुआ, वह हिमवर्ष के नाम से पुराणों में वर्णित है। वास्तव में यही देश महाराज नाभि पौत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाया–प्रकृत शोध प्रबन्ध में ऋषि दृष्टि को समक्ष रखते हुए वैदिककाल से महाभारत–पुराणकाल तक के प्राचीन भारत की सीमाओं का अध्ययन किया गया है। इसमें प्रस्तुत विषय का निरूपण किया जाकर इसके उद्देश्य, क्षेत्र तथा महत्व को प्रतिपादित किया गया है। गवेषणा का स्वरूप एवं मापदण्डों की विवेचना भी की गयी है। दूसरे अध्याय में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और पृथ्वी का अध्ययन किया गया है। सम्यक् विश्लेषण के लिए इसे कई बिन्दुओं में विभाजित कर कार्य किया गया है। इस अध्याय में स्पष्ट हुआ है कि इस सृष्टि के साथ ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति देवताओं द्वारा हुई। हालाँकि देवताओं के नाम को लेकर पुराणों में कुछ मतभिन्नता भी परिलक्षित हुई है। यथा– वायु पुराण में पृथ्वी उत्पत्ति का कारण वराह अवतार को माना गया है। इन्होंने जल के ऊपर पृथ्वी की रचना की, उसको समतल किया व उस पर पर्वत आदि भी बनाये। वहीं कूर्म पुराण के अनुसार यह पृथ्वी भगवान ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुई है। नदी, पर्वत, वन, समुद्र सभी ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए हैं।

पृथ्वी का परिमापन भी तत्वतः स्पष्ट करने का प्रयास यहाँ हुआ है। वैदिककाल में पृथ्वी की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इसमें निष्कर्षतः बताया गया है कि वेदकाल में भारतीय विचारों का प्रभाव संपूर्ण पृथ्वी पर था। लोग पृथ्वी को माता के रूप में सम्मान देते थे। वर्तमान समय तथा वैदिककाल की पृथ्वी के स्वरूप में बहुत अन्तर था। आज जहाँ हिमालय है वहाँ किसी समय समुद्र था। वेदों में स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हुए कि भारत वर्ष के चारों ओर चार समुद्र थे। आधुनिक भू–तत्वान्वेषी भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि मध्य उषःकालीन युग के लगभग अन्त में दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आये। ऐसे में जब हिमालय के स्थान पर समुद्र था, तो निश्चित ही भारत वर्ष की सीमा में भी परिवर्तन था। बाद में भारतीय सीमा में समुद्री जमीन में सिकुड़न पड़ने लगी और भारत के हिमालय, ईरान के पहाड़, कार्पेथिया के पर्वत तथा आल्पस पर्वतों का निर्माण हुआ।

अन्वेषण में पाया गया कि भारत की उत्तरी सीमा में हिमालय पर्वतमाला के अतिरिक्त एक विशाल समुद्र भी था, जो मध्य एशिया के विस्तृत भूभाग में फैला था। मध्य एशिया के पश्चिम में लालसागर, कृष्णसागर तथा कैस्पियन सागर एवं अरावली आदि झीलें कालान्तर में उस महासागर के अवशिष्ट रूप हैं। ऐसे ही भूमध्यसागर (मैडिटेरेनियन सी) तुर्किस्तान के दक्षिण पूर्व तथा पूर्व भाग तक व्याप्त था। इस अध्याय में यह सिद्ध हुआ कि वैदिककाल के ऋषियों को पृथ्वी के विभिन्न पर्वतों और समुद्रों का भलीभाँति ज्ञान था, जो प्राचीन भारतवर्ष का ही हिस्सा थे। उत्तर में समुद्र होने के कारण पूर्वी भारत का क्षेत्र चीन, प्राग्ज्योतिष आदि से होते हुए मंगोल, कम्बोज, तुर्किस्तान आदि से जुड़ा हुआ था। विदित ही है कि प्राचीन मनीषियों के चिंतन की धारा यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे से ही प्रारंभ होती है। अर्थात् जो कुछ पिण्ड या पदार्थ मात्र में है, वह ब्रह्माण्ड में भी है। इसे समझने के लिए ऋषियों ने किसी भी कार्य की तीन अवस्थाएँ प्रमाणित की थीं– आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इसी सिद्धांत के आधार पर पृथ्वी पर ही तीनों लोक पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यु अथवा आकाश होना सिद्ध हुआ है। इस संबंध में मधुसूदन ओझा ने इन्द्रविजय में तीन प्रकार के त्रैलोक्य का निरूपण किया है– दिव्य, शारीर और भौम। इनमें तीसरे क्रम का भौम त्रैलोक्य ही पृथ्वी है।

छत्रपों द्वारा भारतीय संस्कृति का वरण

विजय परिहार

भारत में आकर बसने वाले जिन अभारतीय शासकों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विलयित कर दिया था, उनमें शकों के क्षत्रप–वंश का नाम उल्लेखनीय है। यूनानियों के बाद और कुषाणों से पूर्व भारत के अनेक अंचलों में कई नये राजवंशों का उदय हुआ। उनमें दक्षिण के पार्थव (पहलव), पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रपों का नाम उल्लेखनीय है। इन नवोदित राजवंशों में उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है। विदेश से आये शकों के इस यशस्वी राजकुल ने मध्य–पश्चिम भारत पर लगभग दो–ढाई सौ वर्षों तक शासन किया। उज्जैन के क्षत्रपवंश का प्रथम शासक होने का श्रेय यसामोतिक के पुत्र चष्टन को है, जो कि 130 ई० में सिंहासन पर बैठा। उसी ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था। चष्टन बड़ा शक्तिशाली शासक था। निरन्तर विपदाओं और चिन्ताओं से घिरे रहने पर भी वह उज्जैन पर अपना अस्तित्व बनाये रहा। जयदामन् उसका उत्तराधिकारी था। अपने पिता की भाँति वह भी युद्धों से घिरा रहा और किसी भी मौलिक तथा रचनात्मक कार्यों के निर्माण में सफल नहीं हो सका। जयदामन् के बाद उसका पुत्र रुद्रदामन गद्दी पर बैठा।

भारत के इतिहास में रुद्रदामन् का कई दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। उसके यशस्वी व्यक्तित्व और बल–विक्रम का वर्णन जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर उत्कीर्ण अभिलेख में सुरक्षित है। समस्त भारतीय अभिलेख–साहित्य में संस्कृत की यह प्रथम गद्यमयी प्रशस्ति है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिए सर्वथा सुयोग्य शासक के रूप में रुद्रदामन् को अपना महाक्षत्रप नियुक्त किया था। रुद्रदामन् ने भी जनता के विश्वासों के अनुरूप अपनी योग्यता और शक्ति का परिचय दिया। उसके पिता चष्टन के समय सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णि ने क्षत्रपों के राज्य के जिन भागों को स्वायत्त किया था, रुद्रदामन् ने उन पर पुनः अपना अधिकार किया। उक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन् ने दक्षिणाधिपति सातवाहन सातकर्णि को युद्ध में पराजित किया था। बाद में सातवाहन पुलोमावि से अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कर उसने तत्कालीन भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य से अपने मैत्री–सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था। रुद्रदामन् एक धार्मिक और प्रजावत्सल शासक था। प्रजा की सुख–शान्ति का उसे सदा ध्यान रहता था। उसने भारत के महान् सम्राटों की शासन प्रणाली को वरण किया था। उसके सुशासन में बेगारी (विष्टि) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। ताकि प्रजा का अनावश्यक शोषण समाप्त हो। उसने सुदर्शन झील के बाँध का पुनर्निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने काठियावाड़ में निरनार पर्वत के नीचे एक विशाल झील का निर्माण तथा उस पर एक बाँध बंधवाया था। रुद्रदामन् ने गिरनार अभिलेख में इस झील का, जिसका नाम सुदर्शन सेतुबन्ध रखा गया था, उल्लेख है। रुद्रदामन ने उसको चिरस्थायी बनाने हेतु उस पर तीन हिस्सों का बाँध बनाया था। एक शक्तिशाली सुशासक होने के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामन् विद्वान तथा विद्यानुरागी भी था। ज्योतिष, व्याकरणशास्त्र, न्याय–दर्शन तथा संगीत का वह अच्छा ज्ञाता था। रुद्रदामन् के बाद भी उज्जैन के क्षत्रपों का राजवंश लगभग दो सौ वर्षों तक शासनारूद रहा, किन्तु इन वर्षों का इतिहास अन्धकारमय है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों का यह वंश किसी–न–किसी रूप में गुप्तकाल के आस–पास तक चलता रहा। बाण के हर्षचरित और विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त का शकराज, जिसे कुमारावस्था में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375–414 ई.) ने मार डाला था, सम्भवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय था, जिसके अनेक सिक्के भी उपलब्ध है। उज्जैन, महाराष्ट्र और मथुरा के शकों का सर्वथा उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकारि का वीरुध धारण किया था।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में शक क्षत्रपों का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि विदेशी होते हुए भी उन्होंने

स्वयं को भारतीय संस्कृति में सर्वथा विलयित कर दिया था। अपने विवाह सम्बन्धों को क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों से स्थापित कर उन्होंने अपनी समन्वयवादी, सहिष्णु एवं उदार नीति का परिचय दिया। उन्होंने अपने नामों का भारतीयकरण किया और ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मों के आदर्शों को ग्रहणकर उनके देवी–देवताओं को स्वीकार कर अपनाया। भारतीय शासकों की ही भाँति उन्होंने अनेक चौत्यों, गुफाओं तथा मन्दिरों का निर्माणकर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। उदार और सहिष्णु होने के साथ–साथ वे दानी भी थे। ब्राह्मणों को प्रचुर दान देकर वे भारतीय इतिहास के अभिन्न अंग बन गये। इस दृष्टि से शक शासक उषवदास और ऋभषदत्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नासिक से प्राप्त एक गुफालेख (19–125 ई.) से ज्ञात होता है कि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को वरण कर लिया था और वे हिन्दू देवताओं की पूजा–प्रतिष्ठा करने लग गये थे। ऋभषदत्त ने बौद्ध संघ को एक गुफा का दान किया। अभिलेख में उसे तीन लाख गायों के दानदाता (त्रि गोशतसहस्रदा) की उपाधि से विभूषित किया गया है। विदेशियों के भारतीयता–वरण करने की यह परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। समय–समय पर शासनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रयोजनों से भारत आये विदेशियों ने भारतीय धर्म को वरण करने में गौरव का अनुभव किया। बेसनगर के गरुड़–स्तम्भ पर उत्कीर्णित अभिलेख से ज्ञात होता है कि अन्तिकिलित के राजदूत हेलियोदोरस ने परम भागवत की उपाधि धारण की थी। महाराज मेनांडर तो बौद्धधर्म का अनुयायी बन गया था।

कुषाणराज बीम कदफिसस माहेश्वर उपाधि से युक्त शैवमत का अनुयायी हो गया था। कनिष्क भी भारतीयता का अभिन्न अंग बन चुका था। विदेशियों के आर्थीकरण या भारतीयकरण का यह अभियान वस्तुतः वैदिक युग से ही प्रचलित हो गया था। स्मृतिकारों ने भी उसे धर्मसम्मत मान लिया था। और उसके लिए नियम बना दिया था। मनुस्मृति (10.67) में मिश्रित या संकर जातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे अपने गुण, कर्म के अनुसार आर्य बन सकते हैं। यह नियम वस्तुतः बाहरी जातियों के आर्य महासघ में सम्मिलित होने के उद्देश्य से बनाया गया था। इससे पूर्व महाभारतकार (65.513) ने यवनों, किरातो, गन्धारों, तुषारों और पहलवों को वैदिक संस्कारों का वरण करने तथा वैदिकों की पूजा–विधियों में सम्मिलित होने का विधान कर दिया था। इसी आधार पर मनुस्मृतिकार ने आपद्धर्म के अन्तर्गत आर्गीकरण के लिए उक्त अधिनियम की स्वतन्त्र व्यवस्था कर दी थी। भारतीयकरण के इस अभियान के फलस्वरूप जिन शक शासकों ने अपने नामों में परिवर्तनकर भारतीयता को वरण किया, उनमें घटक, रुद्रदामन, राजुल, षोडष, शिवघोष, शिवदत्त, रुद्रसेन और विजयसेन का नाम उल्लेखनीय है। उनकी इस उदारता एवं उनके भारतीय अनुराग के कारण भारत के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन–सभी वर्गों, सम्प्रदायों के समाज ने उनको ससम्मान ग्रहण किया। शकों की आचार–पद्धति, रहन–सहन और शासन व्यवस्था सभी में भारत की परम्पराएँ निहित थीं। उनका संस्कृतानुराग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रुद्रदामन् की प्रशस्ति संस्कृत गद्य की एक अनुपम कृति है। अपने समसामयिक एवं पड़ोसी सातवाहनों के प्राकृतानुराग के विपरीत शकों ने संस्कृत को अपने शासनकाल में सम्मानित स्थान दिया। भारत ने शक सम्वत् को अपना राष्ट्रीय सम्वत् घोषित कर तानाशाह शासकों का सर्वधर्म–समन्वय तथा सहनशीलता को पुनरुज्जीवितकर अपनी उदार राष्ट्रनीति का परिचय दिया है। कनिष्क भारत के महानतम शासकों की परम्परा में हुआ। वह उत्कट राज्यलिप्सु और अद्भुत योद्धा होने के साथ प्रजावत्सल, गुणग्राही, उदार, कलानुरागी शासक था। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक विधर्मी एवं विदेशी होते हुए भी योग्यता, दूरदर्शिता और कुशलता से उसने भारतीय जनता के मन पर एकाधिकार किया। भारतीय इतिहास में वह अपूर्व उदाहरण के रूप में है। उस महान् विजेता के पराक्रम और निर्माण कार्यों की तुलना मौर्य चन्द्रगुप्त और मौर्य अशोक जैसे शासकों से की गयी है। उसकी सैनिक क्षमता चन्द्रगुप्त जितनी और धार्मिक सहिष्णुता अशोक जैसी महान् थी। उसके जीवन चरित के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर वह मध्य एशिया की एक खानाबदोश तुर्की जाति में उत्पन्न हुआ था।

कुषाण–वंश के संस्थापक का नाम कुजूल कडफिसेस था। 165 ई.पू. के लगभग ह्युंग–नु नामक जिस तुर्की खानाबदोश जाति ने वैक्ट्रिया से चलकर उत्तर–पश्चिमी चीन के कान–सू नामक प्रान्त में बसने वाली यहूदी जाति पर आक्रमण किया था, वही विजयी जाति तिब्बत की सीमा को पार करती हुई भारत में प्रविष्ट हुई और उसी के द्वारा भारत में कुषाण साम्राज्य की स्थापना हुई। उसके संस्थापक वीर नेता कडफिसेस का उत्तराधिकारी उसका पुत्र बीम कडफिसेस गद्दी पर बैठा। उसने एकाएक इतनी शक्ति अर्जित की कि समस्त उत्तरी और मध्य–पश्चिम भारत पर अपना अधिकार कर लिया। कनिष्क का पिता कुजूल कडफिसेस बौद्ध था, किन्तु उसके पिता ने शैवधर्म को वरण कर लिया था और अपने सिक्कों पर माहेश्वर खुदवाकर उसने अपनी धार्मिक सहिष्णुता के बल पर स्वयं को भारतीयता का अभिन्न अंग बना लिया था। कनिष्क के अभिलेखों से विदित होता है कि अपने शासन के प्रथम तीन वर्षों में ही उसने पेशावर से सारनाथ तक अपना विस्तार कर लिया था। कनिष्क के अभिलेख पेशावर, जेदा, माणिक्याल, सुईबिहार। नथुत्रा, कौशम्बी तथा सारनाथ और उसके सिक्के सिन्ध से लेकर बंगाल तक के विस्तृत भू–भाग से उपलब्ध हुए हैं। उसके अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसने अपने सुविस्तृत भू–भाग की शासन–व्यवस्था के लिए क्षत्रपों तथा महाक्षत्रपों की नियुक्ति की थी, जो कि उसके प्रतिनिधि रूप में अलग–अलग क्षेत्रों का शासन करते थे। इन आधारों पर कहा जा सकता है कि कनिष्क ने उत्तर में कापिश से उत्तर–पूर्व में सारनाथ तक और पश्चिम में कश्मीर से मध्यभारत (विदिशा) तक के विस्तृत भू–भाग पर शासन किया।

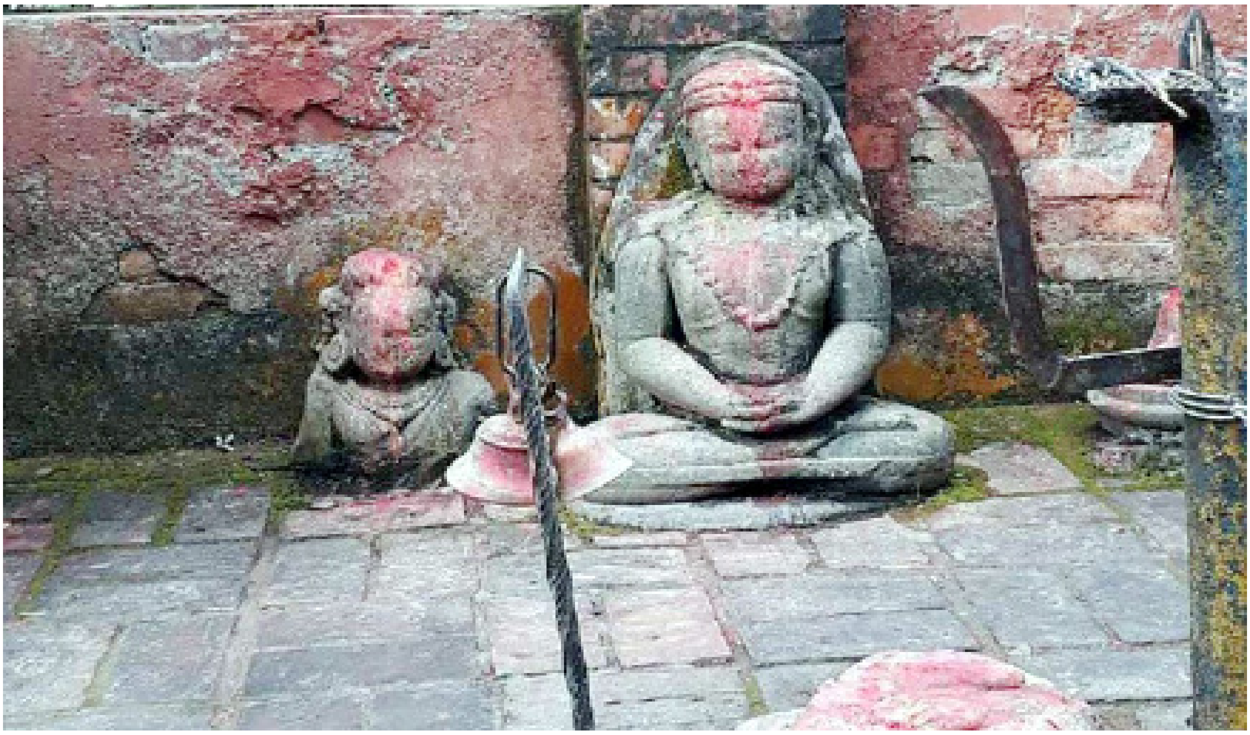

भारत का प्राचीन नाथपंथ और समाज

रमेन्द्र कुमावत

सम्राट हर्ष के बाद भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हुई और जिसका इतिहास तत्कालीन हूणों, तुर्कों, अफगानों, राजपूतों और मुगलों आदि जिसका जातियों के संस्कारों से प्रभावित है। मध्ययुगीन भारत में नये धार्मिक उदा का सूचक है। इन विभिन्न जातियों के संस्कारों के फलस्वरूप धार्मिक अवक्रचरचण की जो परस्पर विरोधी परम्पराएँ प्रकाश में आयीं, उन्हीं के परिणामस्वरूप तान्त्रिक कथा यौगिक नामक नये पन्थों का उदय हुआ। लगभग 11वीं, 12वीं शती तक इस प्रकार के अनेक नये धार्मिक पन्थ उभरते और विलुप्त होते गये। नाथपंथ इसी प्रकार के बनते–बिगड़ते धर्मों का एक संगठन था, जिसमें शैव, शाक्त और बौद्ध आदि अनेक धर्मानुयायी सम्मिलित हुए।

तत्कालीन देशव्यापी राजनीतिक उथल–पुथल ने वर्गवाद और धार्मिक पक्षतात को इतना अधिक उभार दिया था कि उसने सारे भारतीय समाज को दो वर्गों में विभाजित होने के लिए बाध्य किया। इस राजनीतिक संकट ने उन विभिन्न धर्म–पन्थों की जड़ें हिला दीं, जो मध्यमार्गी थे और अवसरवादिता थे। भारत में जब तांत्रिकों और साधकों के चमत्कार एवं आचार–विचार की बदनामी होने लगी और साधकों को शाक्त, मद्य, मांस संबंधी व्यभिचारों के कारण घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा इनकी यौगिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ने लगी, तब इन यौगिक क्रियाओं के उद्धार के लिए नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ था। नाथ सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के अंतर्गत शैववाद की एक उप–परंपरा हैस यह एक मध्ययुगीन आंदोलन है जो शैव धर्म, बौद्ध धर्म और भारत में प्रचलित योग परंपराओं का सम्मिलित रूप है। नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी आदिनाथ या शिव को अपना पहला भगवान या गुरू मानते हैं। शिव के अलावा कई अन्य व्यक्तियों को नाथ सम्प्रदाय में गुरू माना जाता है जिनमें मच्छेन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) प्रमुख हैं। इस लेख में हम नाथ शब्द का अर्थ, नाथ सम्प्रदाय की उत्पति, उसके प्रमुख गुरूओं तथा इस सम्प्रदाय के क्रियाकलापों का विवरण दे रहे हैं। संस्कृत के शब्द "नाथ" का शाब्दिक अर्थ प्रभ या रक्षक है जबकि इससे संबंधित संस्कृत शब्द "आदिनाथ" का अर्थ "प्रथम" या "मूल" भगवान है और यह नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक शिव के लिए प्रयुक्त होता है। शब्द 'नाथ' उस नाम से जाना जाने वाला शैववाद परंपरा के लिए एक नवाचार है। अट्ठारहवीं सदी से पहले नाथ सम्प्रदाय के लोगों को "जोगी या योगी" कहा जाता था। हालाँकि औपनिवेशिक शासन के दौरान "योगी या जोगी'' शब्द का उपयोग ब्रिटिश भारत की जनगणना के दौरान "निम्न स्थिति वाली जाति" के लिए किया जाता था। बीसवीं शताब्दी में इस समुदाय के लोगों ने अपने नाम के अंत में वैकल्पिक शब्द "नाथ" का इस्तेमाल करना शुरू किया जबकि अपने ऐतिहासिक शब्द "योगी या जोगी" का प्रयोग अपने समुदाय के भीतर एक–दूसरे को संदर्भित करने के लिए करते हैं। नाथ शब्द का प्रयोग वैष्णववाद (जैसे गोपीनाथ, जगन्नाथ) और जैन धर्म में भी किया जाता है। भारत में नाथ परंपरा की शुरूआत कोई नया आंदोलन नहीं था बल्कि यह "सिद्ध परंपरा" का एक विकासवादी चरण था। "सिद्ध परंपरा" ने योग का पता लगाया, जिसमें मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक तकनीकों के सही संयोजन

से सिद्धि की प्राप्ति होती हैस मल्ललिन्सन के अनुसार पुरातात्विक सन्दर्भों और शुरूआती ग्रंथों से पता चलता है कि मच्छेन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ का संबंध प्रायः द्वीपीय भारत के दक्कन क्षेत्र से था जबकि अन्य लोगों का संबंध पूर्वी भारत से हैं। नाथ सम्प्रदाय के योगी की सबसे पुरानी प्रतिमा कोंकण क्षेत्र में पायी गयी है। विजयनगर साम्राज्य के कलाकृतियों में उन्हें शामिल किया गया था। मा–हुन नामक चीनी यात्री, जिसने भारत के पश्चिमी तट का दौरा किया था अपने संस्मरण में नाथ योगियों का उल्लेख किया है। नाथ परंपरा के सबसे पुराने ग्रंथों में इस बात का उल्लेख किया गया है कि नाथ सम्प्रदाय के अधिकांश तीर्थस्थल दक्कन क्षेत्र और भारत के पूर्वी राज्य में स्थित हैं। नाथपंथ का जन्म इसी संक्रान्ति काल में हुआ।

मत्स्येन्द्रनाथ उसके प्रवर्तक और गोरक्षनाथ या गोरखनाथ उसके संगठनकर्ता थे। उन्होंने योग द्वार उपासना की नयी पद्धति का सूत्रपात किया। गोरखनाथ के मत से सहज (स्वाभाविक तथा स्वतः स्फूर्त) जीवन–प्रणाली ही सर्वोच्च है। उसकी उत्पत्ति सहज शून्य से हुई है और वह दृढ़ तथा कोमल, दोनों है। उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह सहजजन्य योगमार्ग वस्तुतः बौद्धों तथा शैव–शाक्तों की योगपद्धति का समन्वय है और उसका गठन इसी प्रकार के परम्परागत अनेक साधकों तथा सिद्धों द्वारा हुआ। उसमें उन वाममार्गियों या कापालिकों का योगदान नहीं था, जिन्होंने अचम्भों तथा आश्चर्यों का बवाल खड़ा करके अपने रहस्यात्मक विचित्र करतबों द्वारा समाज को भरमाया हुआ था। नाथपंथ ने हिन्दू धर्म का उद्घोषक बनकर भारत में अपना–अलग अस्तित्व बनाये रखा और उसके बाद तिब्बत, नेपाल तथा सिक्किम–भूटान तक व्याप्त हुआ। संस्कृत के शब्द नाथ का शाब्दिक अर्थ प्रभु या रक्षक है जबकि इससे संबंधित संस्कृत शब्द आदिनाथ का अर्थ प्रथम या मूल भगवान है और यह नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक शिव के लिए प्रयुक्त होता है। शब्द नाथ उस नाम से जाना जाने वाला शैववाद परंपरा के लिए एक नवाचार है। अट्ठारहवीं सदी से पहले नाथ सम्प्रदाय के लोगों को जोगी या योगी कहा जाता था। बीसवीं शताब्दी में इस समुदाय के लोगों ने अपने नाम के अंत में वैकल्पिक शब्द नाथ का इस्तेमाल करना शुरू किया जबकि अपने ऐतिहासिक शब्द योगी या जोगी का प्रयोग अपने समुदाय के भीतर एक–दूसरे को संदर्भित करने के लिए करते हैं। मध्ययुग में उत्पन्न इस सम्प्रदाय में शैव तथा योग की परम्पराओं का समन्वय दिखायी देता है। यह हठयोग की साधना पद्धति पर आधारित पंथ है। शिव इस सम्प्रदाय के प्रथम गुरु एवं आराध्य हैं। इसके अलावा इस सम्प्रदाय में अनेक गुरु हुए जिनमें गुरु मत्स्येंद्रनाथ, गुरु शंकराचार्य तथा गुरु गोरखनाथ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। नाथ सम्प्रदाय समस्त भारत में फैला हुआ था। नाथसम्प्रदाय में दशनामी और जोगी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक जो संन्यासी जीवन जीता है और दूसरा गृहस्थ जीवन। गुरु गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय के बिखराव और इस सम्प्रदाय की योग विद्याओं का एकत्रीकरण किया, अतः इसके संस्थापक गोरखनाथ माने जाते हैं। दशनामी गोस्वामी भी नाथ संप्रदाय के अंतर्गत ही आने वाला एक उप संप्रदाय है, जिसमें गिरि, पुरी, भारती, पर्वत, सरस्वती आदि जातीय समूह शामिल हैं। नाथ साधु–सन्त परिव्राजक होते हैं। वे भगवा रंग के बिना सिले वस्त्र धारण करते हैं। ये योगी अपने गले में काली ऊन का एक जनेऊ रखते हैं जिसे 'सिले' कहते हैं। गले में एक सींग की नादी रखते हैं। इन दोनों को 'सींगी सेली' कहते हैं। उनके एक हाथ में चिमटा, दूसरे हाथ में कमण्डल, दोनों कानों में कुण्डल, कमर में कमरबन्ध होता है। ये जटाधारी होते हैं। नाथपन्थी भजन गाते हुए घूमते हैं और भिक्षाटन कर जीवन यापन करते हैं। उम्र के अंतिम चरण में वे किसी एक स्थान पर रुककर अखण्ड धूनी रमाते हैं। कुछ नाथ साधक हिमालय की गुफाओं में चले जाते हैं। नाथ सम्प्रदाय में सात्विक भाव से शिव की भक्ति की जाती है। वे शिव को 'अलख' (अलक्ष) नाम से सम्बोधित करते हैं। ये अभिवादन के लिए 'आदेश' या आदीश शब्द का प्रयोग करते हैं। अलख और आदेश शब्द का अर्थ प्रणव या 'परम पुरुष' होता है।

नाथ साधु–सन्त हठयोग पर विशेष बल देते हैं। बौद्ध वज्रयान की आराधना–उपासना की कठिन एवं दुस्साध्य यौगिक क्रियाओं को लोक सहज बनाने के उद्देश्य से वजयानियों के एक वर्ग ने कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया, जिसको समाज में व्यापकता से अपनाया गया। इस नयी सहज सिद्धि को माध्यम नारी को बनाया गया। उसे ही शून्यता का प्रतीक माना गया। उसमें योगाभ्यास पर बल दिया गया। उसका प्रभाव त्वरित गति से समस्त भारत में फैला। सर्व प्रथम वह असम, बंगाल पर परिलक्षित हुआ और फिर महाराष्ट्र तथा गुजरात के साथ–साथ समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हुआ। 950–1200 ई. के बीच नेपाल तथा तिब्बत तक उसका प्रभाव प्रसारित हुआ। इसी अन्तराल में चौरासी सिद्धों का उदय हुआ। सहज सिद्धि का यह ढंग विशेषतः उत्तर भारत में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि उसने शाक्तों, वैष्णवों और शैवों की आराधना–पद्धतियों का अन्तर मिटाकर धार्मिक समन्वय का लोकोपकारी वातावरण स्थापित कर दिया। परम्परागत बौद्ध वज्रयान का स्थान लगभग दसवीं शती में सहजयानी नाथपंथ ने ले लिया। ये नाथपन्थी सिद्ध एक प्रकार से हिन्दू तथा बौद्ध परम्पराओं के समन्वय थे। इन नाथपन्थी हठयोगियों का प्रभाव बंगाल से काश्मीर तक और महाराष्ट्र–गुजरात से तिब्बत–नेपाल तक फैला। वस्तुतः धार्मिक माध्यम से राष्ट्रीय नव जागरण और एकता को स्थापित करने में जो श्रेय शंकराचार्य को रहा, उससे किसी भी प्रकार कम गोरखनाथ को नहीं रहा। उसके द्वारा प्रवर्तित नाथपन्ध और सहजयान का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसने धार्मिक समन्वय के रूप में भारत का नेतृत्व किया। हिन्दी–साहित्य के प्रवर्तक कबीर, नानक, दादू, रज्जब और पीपा जैसे महान् सन्तों की वाणियों में नाथपन्थ की समन्वयात्मक विचारधारा व्यापक रूप से प्रकाश में आयी।

प्राचीन भारत का वाणिज्य परिदृश्य

चन्द्रशेखर अवस्थी

भारत में व्यापार और वाणिज्य का इतिहास एक आकर्षक यात्रा है जो हजारों वर्षों तक फैली हुई है और वैश्विक व्यापार में देश की महत्वपूर्ण भूमिका को दर्शाती है। भारत की रणनीतिक स्थिति, समृद्ध संसाधन और सांस्कृतिक विविधता ने इसे पूर्व और पश्चिम को जोड़ने वाले व्यापार मार्गों का केंद्र बना दिया है। प्राचीन सभ्यताओं से लेकर आधुनिक युग तक, भारत में व्यापार और वाणिज्य की कहानी निरंतरता और परिवर्तन की कहानी है, जो वैश्विक वाणिज्य में महत्वपूर्ण योगदान द्वारा चिह्नित है।किसी देश के विकास पर व्यापार और वाणिज्य का प्रभाव निर्विवाद है। किसी देश के व्यापार क्षेत्र का विस्तार और प्रगति अक्सर उसकी भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण से प्रभावित होती है। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में समुद्र के साथ भारत का एक अनूठा लाभ है।

भारत का आर्थिक विकास सिंधु घाटी सभ्यता से आरम्भ माना जाता है। सिंधु घाटी सभ्यता की अर्थव्यवस्था मुख्यतः व्यापार पर आधारित प्रतीत होती है जो यातायात में प्रगति के आधार पर समझी जा सकती है। लगभग 600 ई.पू. महाजनपदों में विशेष रूप से चिह्नित सिक्कों को ढ़ालना आरम्भ कर दिया था। इस समय को गहन व्यापारिक गतिविधि एवं नगरीय विकास के रूप में चिह्नित किया जाता है। 300 ई.पू. से मौर्य काल ने भारतीय उपमहाद्वीप का एकीकरण किया। राजनीतिक एकीकरण और सैन्य सुरक्षा ने कृषि उत्पादकता में वृद्धि के साथ, व्यापार एवं वाणिज्य से सामान्य आर्थिक प्रणाली को बढ़ाव मिला।

अगले 1500 वर्षों में भारत में राष्ट्रकूट, होयसल और पश्चिमी गंग जैसे प्रतिष्ठित सभ्यताओं का विकास हुआ। इस अवधि के दौरान भारत को प्राचीन एवं 17वीं सदी तक के मध्ययुगीन विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में आंकलित किया जाता है। सिंधु घाटी सभ्यता विश्व का सबसे पहला ज्ञात स्थायी और मुख्य रूप से नगरीय आबादी का उदाहरण है। इसका विकास 3500 ई.पू. से 1800 ई.पू. तक हुआ जो उन्नत और संपन्न आर्थिक प्रणाली की ओर बढ़ा। यहाँ के नागरिकों ने कृषि, पालतू जानवार, ताँबे, कांसा एवं टिन से तिक्ष्ण उपकरणों और शस्त्रों का निर्माण तथा अन्य नगरों के साथ इसका विक्रय करना आरम्भ किया। घाटी के बड़े नगरों हड़प्पा, लोथल, मोहन जोदड़ो और राखीगढ़ी में सड़कें, अभिविन्यास, जल निकासी प्रणाली और जलापूर्ति के साक्ष्य, उनकी नगरीय नियोजन के ज्ञान को उद्धघाटित करता है। प्राचीन भारत में आर्थिक विचारों का विश्लेषण धार्मिक शास्त्रों में भी मिलता है। प्राचीन भारत में व्यापार और वाणिज्य के लिए कई तरह के संगठन थे। इन संगठनों को गण, पूग, पाणि, व्रात्य, संघ, निगम, या श्रेणि जैसे नामों से जाना जाता था। प्राचीन भारत में व्यापार के लिए मसाला मार्ग का इस्तेमाल किया जाता था। प्राचीन भारत में व्यापार के लिए सोने और चाँदी का इस्तेमाल किया जाता था। यद्यपि प्राचीन भारत में महत्त्वपूर्ण नगरीय जनसंख्या पायी जाती है लेकिन भारत की अधिकत्तर जनसंख्याँ गाँवों में निवास करती थी जिसकी अर्थव्यवस्था विस्तृत रूप से पृथक और आत्मनिर्भर रही है। आबादी का मुख्य व्यवसाय कृषि था और कपड़ा, खाद्य प्रसंस्करण तथा शिल्प जैसे हाथ आधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने के अलावा खाद्य आवश्यकताएँ भी कृषि से पूर्ण होती थी। कृषकों के अलावा अन्य वर्गों के लोग कार्य करते थे। भारतीय धर्मशास्त्रों में प्राचीन समाज की आर्थिकी का भी विश्लेषण किया गया है। उनमें उल्लिखित है कि हाथ से काम करने वाले शिल्पकार, व्यवसाय चलाने वाली जातियाँ व्यवस्थित थीं। सामूहिक हितों के लिए संगठित व्यापार को अपनाकर उन्होंने अपनी सूझबूझ का परिचय दिया था। इसी कारण वे आर्थिक एवं सामाजिक रूप से काफी समृद्ध भी थीं। आचार्य पांडुरंग वामन काणे ने उस समय के विभिन्न व्यावसायिक संगठनों की विशेषताओं का अलग–अलग वर्णन किया है।

कात्यायन ने श्रेणि, पूग, गण, व्रात, निगम तथा संघ आदि को वर्ग अथवा समूह माना है। लेकिन आचार्य काणे उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार ये सभी शब्द पुराने हैं। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी ये प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि वहाँ उनका सामान्य अर्थ दल अथवा वर्ग ही है। इसी प्रकार कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद् में पूग को रुद्र की उपमा दी गई है। आपस्तंब धर्मसूत्र में संघ को पारिभाषित करते हुए उसकी कार्यविधि और भविष्य को देखने हुए, अन्य संगठनों के संदर्भ में उसके अंतर को समझा जा सकता है। पाणिनिकाल तक संघ, व्रात, गण, पूग, निगम आदि नामों के विशिष्ट अर्थ ध्वनित होने लगे थे। उन्होंने श्रेणि के पर्यायवाची अथवा विभिन्न रूप माने जाने वाले उपर्युक्त नामों की व्युत्पत्ति आदि की विस्तृत चर्चा की है। इस तथ्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं कि श्रेणियों की पहुँच केवल आर्थिक कार्यकलापों तक ही सीमित नहीं थीं, बल्कि उनकी व्याप्ति धार्मिक, राजनीति और सामाजिक सभी क्षेत्रों में थी। इसलिए कार्यक्षेत्र को देखते हुए उन्हें विभिन्न संबोधनों से पुकारा जाना भी स्वाभाविक ही था। दूसरी ओर यह भी सच है कि पूग, व्रात्य, निगम, श्रेणि इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारे जाने के बावजूद सहयोगाधारित संगठनों के बीच उनके कार्यकलापों अथवा श्रेणिधर्म के आधार पर कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं थी। दूसरे शब्दों में ये नाम विशिष्ट परिस्थितियों में कार्यशैली एवं कार्यक्षेत्र के अनुसार अपनाए तो जाते थे, परंतु उनके बीच स्पष्ट कार्य–विभाजन का अभाव था। मनु को प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में प्रथम स्थान दिया गया है। आर्थिक सुव्यवस्था द्वारा मनु ने प्रजावर्ग के कल्याणार्थ नियमों का प्रथम वार प्रतिपादन किया।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

स्वाधीनता संग्राम के गुमनाम योद्धा

भारतीय इतिहास ऐसे अनगिनत गुमनाम योद्धाओं से भरा हुआ है जिन्होंने देश की स्वतंत्रता, संस्कृति और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अद्भुत योगदान दिया, लेकिन वे मुख्यधारा के इतिहास में ज्यादा जगह नहीं पा सके। लेखक विक्रम संपत की किताब शौर्यगाथाएँ भारतीय इतिहास के अविस्मरणीय योद्धा। भारतीय इतिहास के उन पंद्रह भूले–बिसरे और गुमनाम बहादुर स्त्री–पुरुषों के कृत्यों, कालखंड और उनके योगदानों पर प्रकाश डालती है जिन्होंने न केवल रणभूमि में हथियार उठाये बल्कि विपरीत परिस्थितियों में भी आशा की किरण जलाये रखी। उन्होंने धर्म और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आक्रांताओं से बहादुरी पूर्वक लोहा लिया। मणिपुर के राजर्षि भाग्यचंद्र जय सिंह, अहमदनगर की चांद बीबी, असम के लचित बरफुकन, अवध की बेगम हजरत महल, उल्लाल की रानी अब्बक्का चौटा, त्रावणकोर के मार्तंड वर्मा, वारंगल की रानी रुद्रम्मा देवी, गुजरात की रानी नायकी देवी और बंदा सिंह बदादुर कुछ ऐसे ही योद्धा हैं जो अपने देश की संस्कृति और परंपरा के लिए लड़े थे।

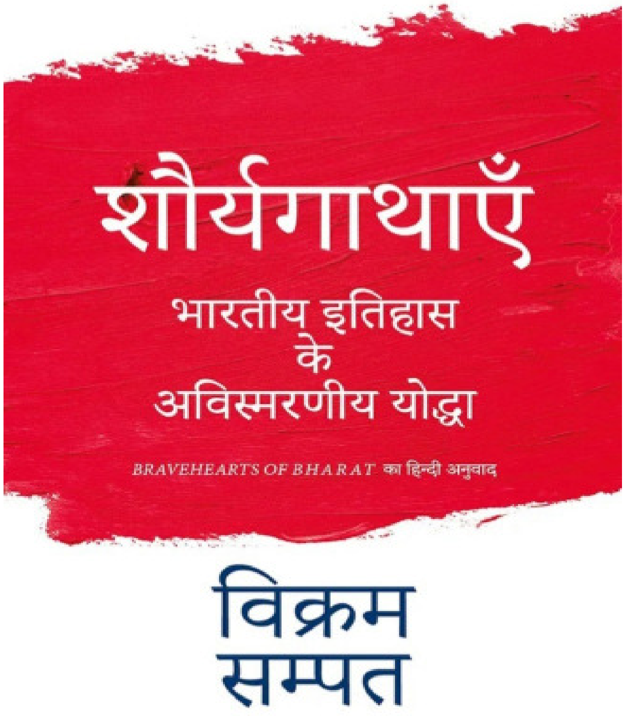

'शौर्य गाथाएँ' ऐसे नायकों की कहानियाँ हैं, जिनकी वीरता को अक्सर मुख्यधारा के इतिहास में दरकिनार कर दिया गया। लेखक ने उनकी संघर्ष गाथाओं और योगदान को फिर से प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। भारत की स्वतंत्रता का इतिहास बहादुरी, त्याग और बलिदान की एक अद्वितीय कहानी है। इसमें अनेक प्रसिद्ध नेता और क्रांतिकारी सामने आये, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया। परंतु इस संघर्ष की सफलता के पीछे कई ऐसे गुमनाम योद्धा भी थे, जिनका नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज नहीं हुए, लेकिन उनका योगदान अमूल्य था। ये गुमनाम योद्धा विभिन्न रूपों में स्वतंत्रता संग्राम में शामिल हुए। उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ आंदोलन किया, गुप्त रूप से संगठन बनाय और आम जनता को जागरूक किया। उनकी निस्वार्थ सेवा और अदम्य साहस ने भारत को आजाद कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास महिलाओं के योगदान का उल्लेख किये बिना अधूरा होगा। भारत की महिलाओं द्वारा किये गये बलिदान को सर्वोच्च स्थान दिया जायेगा। उन्होंने सच्ची भावना और अदम्य साहस के साथ लड़ाई लड़ी और हमें आजादी दिलाने के लिए विभिन्न यातनाओं, शोषण और कठिनाइयों का सामना किया। जब अधिकांश पुरुष स्वतंत्रता सेनानी जेल में थे, तब महिलाएँ आगे आयीं और संघर्ष की कमान संभाली। भारत की सेवा के लिए अपने समर्पण और अटूट निष्ठा के लिए इतिहास में जिन महान महिलाओं के नाम दर्ज हैं, उनकी सूची बहुत लंबी है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की भागीदारी 1817 की शुरुआत में ही शुरू हो गई थी। भीमा बाई होल्कर ने ब्रिटिश कर्नल मैल्कम के खिलाफ बहादुरी से लड़ाई लड़ी और उसे गुरिल्ला युद्ध में हराया। कित्तूर की रानी चन्नम्मा, अवध की रानी बेगम हजरत महल सहित कई महिलाओं ने 19वीं सदी में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ लड़ाई लड़ी 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से 30 वर्ष पूर्व 1857 के स्वतंत्रता संग्राम (महान विद्रोह) में महिलाओं द्वारा निभाई गई भूमिका सराहनीय थी तथा विद्रोह के नेताओं ने भी इसकी प्रशंसा की थी।

रामगढ़ की रानी, रानी जिंदन कौर, रानी तासी बाई, बैजा बाई, चौहान रानी, तपस्विनी महारानी ने साहस के साथ अपने सैनिकों का युद्ध के मैदान में नेतृत्व किया। झांसी की रानी लक्ष्मी बाई जिनकी वीरता और उत्कृष्ट नेतृत्व ने वास्तविक देशभक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण स्थापित किया। राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने वाली भारतीय महिलाएँ शिक्षित और उदार परिवारों के साथ–साथ ग्रामीण क्षेत्रों और सभी वर्गों, सभी जातियों, धर्मों और समुदायों से थीं। भारत की स्वतंत्रता के लिये अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन दो प्रकार का था, एक अहिंसक आन्दोलन एवं दूसरा सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com